३

व्यक्ति और समाज

इस पृथ्वी पर मनुष्य एक सर्वाधिक विकसित एवं प्रभावशाली प्राणी है। उसके विचार, चिन्तन एवं मनन का संसार के वातावरण पर बहुत महत्त्वपूर्ण असर होता रहा है। सृष्टि के विकास-ह्रास तथा उत्थान-पतन में उसके विचारों का बहुत बड़ा योग रहा है। कुछ गहराई में जाने से पता चलता है कि मनुष्य वैसे तो स्वयं में एक क्षुद्र इकाई है, एक सीमित सत्ता है, किन्तु सृष्टि के साथ वह शत-सहस्र रूपों में जुड़ा हुआ है। परिवार के रूप में, समाज एवं राष्ट्र के रूप में, धर्म, संस्कृति और सभ्यता के रूप में, वह एक होकर भी 'अनेक रूप' होकर चल रहा है, यही उसकी विशेषता है।

पार्थिव शरीर की दृष्टि से देखा जाए, तो उसका 'अस्तित्व', उसका 'अपनत्व' एक मृत्पिण्ड तक ही सीमित रह जाता है। शरीर के वैयक्तिक सुख-दुःख के भोग में वह अवश्य अपने सीमित क्षेत्र में ही घूमता है, किन्तु सुख-दुःख का स्वतन्त्र-भोग करते हुए भी वह समाज एवं संसार से सर्वथा निरपेक्ष रह कर नहीं जी सकता। उसकी भावनाओं का, विचारों और प्रवृत्तियों का यदि ठीक से विश्लेषण करें, तो उसका एक व्यापक एवं विराट् रूप हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है। उसके अन्तस्तल में छिपे हुए स्नेह और प्रेम की व्याख्या करें, तो देखेंगे कि वह एक नहीं 'अनेक रूप' है। उसका घेरा सीमित नहीं, असीम है। उसका अन्तर्जगत् बहुत विराट् है, वह अपने आप में सृष्टि का विराट् रूप लिए हुए है।

समाज के विकास की भूमिका :

जब तक मनुष्य का चिन्तन अपने शरीर को ही देखता है, तब तक उसकी इच्छाएँ और प्रवृत्तियाँ केवल इस 'पिण्ड' को लेकर ही चलती हैं। ऐसी स्थिति में जब कभी वह अपने सुख-दुःख का विचार करता है, तो स्वयं का, केवल स्वयं के पिण्ड का ही विचार करके रह जाता है, दृष्टि घूम-फिर कर अपने दायरे पर ही आकर केन्द्रित हो जाती है। तब शरीर के संकुचित घेरे में बँधा रहकर वह इतना संकुचित हो जाता है कि आस-पास में परिवार तथा समाज के भव्य चित्र, धर्म और संस्कृति की दिव्य परम्पराएँ, जो उसके अनन्त अतीत से जुड़ी चली आ रही हैं, उन्हें भी वह ठीक तरह देख नहीं पाता। मनुष्य के लिए विकास की जो लम्बी कहानी है, उसे वह पढ़ नहीं पाता और केवल अपने पिण्ड की क्षुद्र-दृष्टि को लेकर ही जीवन के सीमित कठघरे में बँध जाता है।

जब संकुचित दृष्टि का चश्मा हटता है, अपनी इच्छाओं और सद्भावनाओं को मानव विराट् एवं व्यापक रूप देता है, तो उसकी नजरों में अनन्त अतीत उतर आता है, साथ-साथ अनन्त भविष्य की कल्पनाएँ भी दौड़ पड़ती हैं। वह क्षुद्र से विराट् होता चला जाता है, सहयोग और स्नेह के सूत्र से सृष्टि को अपने साथ बाँधने लगता है। अध्यात्म की भाषा में वह जीव से ब्रह्म की ओर, आत्मा से परमात्मतत्त्व की ओर अग्रसर होता है। अग्नि की जो एक क्षुद्र चिनगारी थी, वह विराट् ज्योति के रूप में प्रकाशमान होने लगती है। यही व्यक्ति से समाज की ओर तथा जीव से ब्रह्म की ओर बढ़ना है। जो अपनी क्षुद्र दैहिक इच्छाओं और वासनाओं में सीमित रहता है, वह क्षुद्र-संसारी प्राणी की कोटि में आता है, किन्तु जब वही आगे बढ़कर अपने स्वार्थ को, इच्छा और भावना को विश्व के स्वार्थ (लाभ) में विलीन कर देता है, अनन्त के प्रति अपने आपको अर्पित कर देता है, हृदय के असीम स्नेह, करुणा एवं दया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को अनन्त प्राणियों के प्रति अर्पित कर देता है, तब वह विराट् ब्रह्मरूप धारण कर लेता है। व्यक्ति की भूमिका में विराट् समाज चेतना का दर्शन होने लगता है। 'स्व' के विस्तार का यह उपक्रम ही व्यक्ति को समाजरूप में और आत्मा को परमात्मरूपमें उपस्थित करता है।

भारत की महान् दार्शनिक परम्परा में ईश्वर को सर्व व्यापक माना गया है। यद्यपि दार्शनिक जगत् में ईश्वर की सर्वव्यापकता एक गुत्थी बनी हुई है, किन्तु यदि इस गुत्थी को इस रूप में सुलझाया जाए कि जब आत्मा में दया और करुणा की अनन्त-धाराएँ फूटती हैं और वह सृष्टि के अनन्त जीवों को अपनी करुणा में ओत-प्रोत देखने लग जाता है, तो चेतना सृष्टि में व्यापक हो जाती है, विराट् हो जाती है। उसके स्नेह और करुणा का अनन्त प्रवाह संसार में सब ओर तटस्थ भाव से बहने लगता है। सृष्टि के अनन्तानन्त प्राणियों में वह उसी चैतन्य को देखता है जो स्वयं उसमें भी विद्यमान है, सब में उसी सुख और आनन्द की कामना के दर्शन करता है, जो उसके हृदय में जग रही है। इस प्रकार वह विराट् और सर्वव्यापक रूप धारण कर लेती है। मेरे विचार में, और सिर्फ मेरे ही नहीं, बल्कि अध्यात्म-दर्शन के विचार में, ईश्वरत्व इसी भावात्मक रूप में सर्वव्यापक है। शब्दों का जोड़-तोड़ कुछ और भी हो सकता है। हम सर्वव्यापक की जगह सर्वज्ञाता और सर्वद्रष्टा भी कहते हैं, चूँकि प्राणिमात्र में अपने समान चैतन्य देवता के दर्शन करना, उनकी सुख-दुःख की धारणाओं को आत्म-तुल्य समझना—यही तो हमारे ईश्वरत्व पाने वाले महामानवों का सर्वव्यापक, सर्वज्ञाता-सर्वज्ञ और सर्वद्रष्टा अनन्त चैतन्य है।

मनुष्य का विकासक्रम, या यों कहें कि उसकी मनुष्यता का विकासक्रम यदि देखा जाए, तो ज्ञात होगा कि वह किस प्रकार क्षुद्र से विराट् स्थिति तक पहुँचा है। एक असहाय शरीर ने जन्म धारण किया, तो आसपास में जो अन्य सक्षम शरीरधारी थे, वे उसे सहयोग करने लगे, उसके सुख-दुःख में भाग बँटाने लगे। इस प्रकार, परस्पर में स्नेह एवं सद्भाव की कल्पना जगी और वह परिवार का एक रूप बन गया। परिवार जैसी व्यवस्था बहुत पुराने युग में नहीं थी, पर जब मनुष्य आस-पास के सुख-दुःख को अपना बनाने लगा और अपने सुख-दुःख को आस-पास के पड़ोसियों में बांटने लगा, तो धीरे-धीरे परिवार की धारणा खड़ी हो गई। सुख-दुःख में हिस्सा बँटाने वाले अपने 'निज' के हो गए और जो उससे दूर रहे, वे पराये बने रहे। इस प्रकार मनुष्य के जीवन में सुख-दुःख का विनिमय शुरू हुआ। आगे चलकर उसके जीवन में जो भौतिक और आधिदैविक दुःख आते, उनसे भी सब सहयोग पूर्वक लड़ते, दुःखों को दूर करने का मिल-जुलकर प्रयत्न करते और जो सुख प्राप्त होता, उसे सद्भाव पूर्वक आपस में बाँट लेते, मिलकर उसका उपयोग या उपभोग करते—बस व्यक्ति के क्षुद्र जीवन के व्यापक होने की यह प्रक्रिया परिवार को जन्म देती चली गई, समाज का निर्माण करती चली गई। इसी वृत्ति ने धीरे-धीरे विराट् से विराट्तर रूप धारण किया, तो देश और राष्ट्र की सामूहिक भावनाएँ सामने आईं, अन्ततः धर्म और संस्कृति की सर्वतोमुखी व्यापक धारणाएँ भी प्रस्फुटित हुईं।

मनुष्य का चिन्तन जब अपने परिपार्श्व में विचरने वाले छोटे जीव-जन्तुओं पर गया, तो वह उनके साथ भी एक अज्ञात संवेदना तथा सहवदना से जुड़ने लगा। वह पशु-पक्षी जगत् के सुख-दुःख को भी समझने लगा, उसके साथ भी उसकी सहानुभूति जागी, प्राणीदया की भावना ने उसके जीवन में धर्म और अध्यात्म की सृष्टि खड़ी कर दी, धर्म ने उसे विराट्तम रूप पर लाकर खड़ा कर दिया। प्रत्येक प्राणी के साथ आत्म-तुल्य विचार की भूमिका ने उसे आत्मा से परमात्मा तक के चिन्तन पर पहुँचा दिया। यही मनुष्यता के विकास की कहानी है।

समाज का महत्त्व :

इधर-उधर अनियंत्रित रूप में बिखरी हुई इकाइयों को एकत्र कर, समाज या संघ के रूप में उपस्थित करने वाला पारस्परिक सहयोग ही मानवता का एक दिव्य तत्त्व है। यही समाज के निर्माण की आधार-भूमि है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न यह है कि मनुष्य व्यष्टिरूप—इकाई में जीता है या समष्टिरूप समाज में? चिन्तन, मनन और अनुभव के बाद यह देखा गया कि मनुष्य अपने पिण्ड की क्षुद्र इकाई में बद्ध रह कर एक अच्छे जीने के ढंग से जी नहीं सकता, अपना पर्याप्त भौतिक और बौद्धिक विकास नहीं कर सकता, जीवन की सुख-समृद्धि का द्वार नहीं खोल सकता और न ही आध्यात्म की श्रेष्ठ भूमिका तक पहुँच सकता है। अकेला रहने में उसका दैहिक विकास भी भली-भाँति नहीं हो सकता, तो सांस्कृतिक विकास की कल्पना तो बहुत दूर की बात है।

जैन परम्परा में वर्तमान मानवीय सभ्यता का मूल-स्रोत यौगलिक परम्परा से माना गया है। यौगलिक परम्परा वह है, जहाँ मनुष्य एक इकाई के रूप में चलता है। यह ठीक है कि वहाँ मनुष्य अकेला तो नहीं है, वह स्वयं एक पुरुष है और एक स्त्री भी है उसके साथ। किन्तु, वह एक नारी है, पत्नी नहीं है। स्त्री के साथ एक पुरुष को भी हम देखते हैं, पर वह पुरुष मात्र है, पति नहीं है। जीवन की कितनी जटिल स्थिति है वहाँ? स्त्री-पुरुष साथ-साथ तो घूम रहे हैं, पर उनमें पति-पत्नी भाव नहीं है, स्त्री-पुरुष के रूप में सिर्फ दैहिक सम्बन्ध है। पति-पत्नी के रूप में पवित्र सामाजिक सम्बन्ध की उदार-चेतना वहाँ नहीं है। उस समय का चित्र आगम-साहित्य में जिस प्रकार अंकित किया गया है, उससे यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि उस युग के स्त्री-पुरुष पति-पत्नी के रूप में नहीं थे, वे एक-दूसरे के सुख-दुःख में भागीदार नहीं थे। उन्हें एक-दूसरे के हितों की किसी को भी चिन्ता नहीं थी। पुरुष को भूख लगती थी, तो इधर-उधर चला जाता था और तत्कालीन कल्पवृक्षों के द्वारा वह अपनी क्षुधा को शान्त कर लेता था। स्त्री को भूख सताती थी, तो वह भी निकल पड़ती और पुरुष की ही तरह कल्पवृक्षों के द्वारा वह भी अपनी क्षुधा-पूर्ति कर लेती थी। न पति पत्नी के लिए भोजनादि का प्रबन्ध करता था और न पत्नी ही पति के लिए भोजनादि तैयार करने की जरूरत देखती थी। न प्यास के लिए कोई किसी को लाकर पानी पिलाता था और न अन्य किसी प्रकार की कोई व्यवस्था होती थी। जीवन का यह कितना विचित्र रूप है कि लाखों वर्षों तक के लम्बे काल-प्रवाह में स्त्री और पुरुष की दो इकाइयाँ साथ-साथ रहकर भी इतनी अलग-अलग रहीं कि वे एक-दूसरे के सुख-दुःख में भागीदार न बन सकीं। एक-दूसरे के लिए अर्पण होने की कल्पना नहीं कर सकीं? एक-दूसरे की समस्याओं में रस नहीं ले सकीं।

अकर्म भूमि के उस वैयक्तिक युग में कोई परिवार नहीं था। समाज की कोई कल्पना नहीं थी, राष्ट्र भी नहीं था। भूगोल तो था, राष्ट्र नहीं था। यदि आप अमुक भूगोल को ही राष्ट्र की सीमा मान लें, तब तो वहाँ सब कुछ थे, पहाड़ थे, नदियाँ थीं, नाले थे, जंगल थे, और वन थे। परन्तु सही अर्थों में यह भूगोल था, राष्ट्र नहीं था। मनुष्यों का समूह भी था, अलग-अलग इकाइयों में मानव समूह खड़ा था, यदि उसे ही समाज मान लें, तब तो वह समाज था। पर नहीं, केवल मनुष्यों के अनियन्त्रित एवं अव्यवस्थित समूह को समाज नहीं माना जा सकता। जब परस्पर में भावनात्मक एकसूत्रता होती है, एक-दूसरे के लिए सहयोग की भावना से हृदय ओत-प्रोत हो जाता है, तभी मनुष्यों का समूह परस्पर में नियन्त्रित एवं व्यवस्थित समाज का रूप लेता है, संघ का रूप लेता है।

सामूहिक साधना :

जैन धर्म की मूल परम्परा में आप देखेंगे कि वहाँ साधना के क्षेत्र में व्यक्ति स्वतन्त्र होकर अकेला भी चलता है और समूह या संघ के साथ भी। एक ओर जिनकल्पी मुनि संघ से निरपेक्ष होकर व्यक्तिगत साधना के पथ पर बढ़ते हैं, दूसरी ओर विराट् समूह, हजारों साधु-साध्वियों तथा श्रावक-श्राविकाओं का संघ सामूहिक जीवन के साथ साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, जैन धर्म और जैन परम्परा ने व्यक्तिगत धर्म-साधना की अपेक्षा सामूहिक साधना को अधिक महत्त्व दिया है। सामूहिक चेतना और समूहभाव उसके नियमों के साथ अधिक जुड़ा हुआ है। अहिंसा और सत्य की वैयक्तिक साधना भी संघीय रूप में सामूहिक-साधना की भूमिका पर विकसित हुई है। अपरिग्रह, दया, करुणा और मैत्री की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना भी संघीय धरातल पर ही पल्लवित-पुष्पित हुई है। जैन परम्परा का साधक अकेला नहीं चला है, बल्कि समूह के रूप में साधना का विकास करता चला है। व्यक्तिगत हितों से भी सर्वोपरि संघ के हितों का महत्त्व मानकर चला है। जिनकल्पी जैसा साधक कुछ दूर अकेला चलकर भी अन्ततोगत्वा संघीय जीवन में ही अन्तिम समाधान कर पाया है।

जीवन में जब संघीय-चेतना का विकास होता है, तो निजी स्वार्थों और व्यक्तिगत हितों का बलिदान करना पड़ता है। मन के वासना-केन्द्रों को समाप्त करना होता है। एकता और संघ की पृष्ठभूमि त्याग पर ही खड़ी होती है। अपने हित, अपने स्वार्थ, अपने सुख से ऊपर संघ के स्वार्थ और सामूहिक हित को प्रधानता दी जाती है। संघीय जीवन में साधक अकेला नहीं रह सकता, सब के साथ चलता है। एक-दूसरे के हितों को समझकर, अपने व्यवहार पर संयम रखकर चलता है। परस्पर एक-दूसरे के कार्य में सहयोगी बनना, एक-दूसरे के दुःखों और पीड़ाओं में यथोचित साहस और धैर्य बंधाना, उनके प्रतिकार में यथोचित भाग लेना, यही संघीय जीवन की प्रथम भूमिका होती है। जीवन में जब अन्तर्द्वन्द्व खड़े हो जाएँ और व्यक्ति अकेला स्वयं उनका समाधान न कर सके, तो उस स्थिति में दूसरे साथी का कर्तव्य है, कि वह उसके अन्तर्द्वन्द्वों को सुलझाने में सस्नेह सहयोगी बने, अँधेरे में प्रकाश दिखाये और पराभव के क्षणों में विजय की ओर उसे अग्रसर करे। सामूहिक साधना की यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है कि वहाँ किसी भी क्षण व्यक्ति अपने को एकाकी या असहाय अनुभव नहीं करता है, एक के लिए अनेक सहयोगी वहाँ उपस्थित रहते हैं। एक के सुख व हित के लिए, अनेक अपने सुख व हित का उत्सर्ग करने को प्रस्तुत रहते हैं।

जैसा कि मैंने बताया, बहुत पुराने युग में, व्यक्ति अपने को तथा दूसरों को अलग-अलग एक इकाई के रूप में सोचता रहा था, पर जब समूह और समाज का महत्त्व उसने समझा, संघ के रूप में ही उसे जीवन की अनेक समस्याएँ सही रूप में सुलझती हुई लगीं, तो सामाजिकता में, संघीय भावना में उसकी निष्ठा बढ़ती गई और जीवन में संघ और समाज का महत्त्व बढ़ता गया। साधना के क्षेत्र में भी साधक व्यक्तिगत साधना से निकल कर सामूहिक-साधना की ओर आता गया।

जीवन की उन्नति और समृद्धि के लिए संघ का आरम्भ से ही अपना विशिष्ट महत्त्व है। इसीलिए व्यक्ति से अधिक संघ को महत्त्व दिया गया है। साधना के क्षेत्र में यदि आप देखेंगे तो हमने साधना के कुछ अंगों को व्यक्तिगत रूप में उतना महत्त्व नहीं दिया है, जितना समूह के साथ चलने वाली साधना को दिया है। जीवन में संघ का क्या महत्त्व है? इसे समझने के लिए यही एक बहुत बड़ा उदाहरण हमारे सामने है कि 'जिन-कल्पी' साधक से भी अधिक 'स्थविर-कल्पी' साधक का हमारी परम्परा में महत्त्व रहा है।

साधना के क्षेत्र में जिन-कल्पी मुनि साधना की कठोर और उस भूमिका पर चलता है। आगम ग्रन्थों में जब हम 'जिन-कल्पी' साधना का वर्णन पढ़ते हैं तो आश्चर्य-चकित रह जाते हैं—कितनी उग्र, कितनी कठोर साधना है! हृदय कँपा देने वाली उसकी मर्यादाएँ हैं! 'जिन-कल्पी' चला जा रहा है, सामने सिंह आ गया, तो वह नहीं हटेगा, सिंह भले ही हट जाए, न हटे तो उसका ग्रास भले बन जाए, पर जिन-कल्पी मुनि अपना मार्ग छोड़कर इधर-उधर नहीं जाएगा। मौत को सामने देखकर भी उसकी आत्मा भयभीत नहीं होती, निर्भयता की कितनी कठोर साधना है!

चम्पा के द्वार खोलने वाली सती सुभद्रा की कहानी आपने सुनी होगी। मुनि चले जा रहे हैं, मार्ग में काँटेदार झाड़ी का भार सिर पर लिए एक व्यक्ति जा रहा है और झाड़ी का एक काँटा मुनि की आँख में लग जाता है। आँख बिन्ध गई और खून आने लग गया। कल्पना कीजिए, आँख में एक मिट्टी का कण भी गिर जाने पर कितनी वेदना होती है, प्राण तड़पने लग जाते हैं और यहाँ काँटा आँख में चुभ गया, खून बहने लगा, आँख सूर्ख हो गई, पर वह कठोर साधक बिलकुल बेपरवाह हुआ चला जा रहा है, उसने काँटा हाथ से निकाल कर फेंका भी नहीं। सुभद्रा के घर पर जब मुनि भिक्षा के लिए जाते हैं और सुभद्रा ने मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की आँख देखी, तो उसका हृदय चीख उठा। वेदना मुनि को हो रही थी, पर सुभद्रा देखते ही वेदना से तड़प उठी कि मुनि को कितना घोर कष्ट हो रहा होगा? वह जिन-कल्पी मुनि के नियमों से परिचित थी, जिन-कल्पी मुनि अपने हाथ से काँटा नहीं निकालेंगे, यदि मैं इन्हें कहूँ कि काँटा निकाल देती हूँ तो भी मुनि ठहरने वाले नहीं हैं। निस्पृह और निरासक्त हैं ये! सुभद्रा श्रद्धा-विह्वल हो गई और आहार देते-देते झटापटी में उसने अपनी जीभ से मुनि का काँटा निकाल दिया। परन्तु जल्दी में सुभद्रा का मस्तक मुनि के मस्तक से छू गया और उसके मस्तक पर की ताजा लगाई हुई बिन्दी मुनि के मस्तक पर भी लग गई। यह घटना-प्रवाह आगे विकृत रूप में बदल गया और इस पर जो विषाक्त वातावरण सुभद्रा के लिए तैयार किया गया, वह आपको ज्ञात ही है। किन्तु हमें यहाँ देखना है कि जिन-कल्पी साधक की कठोर साधना कैसी होती है? काँटा लग गया, पाँव में नहीं, आँख में! पाँव का काँटा भी चैन नहीं लेने देता, जिसमें यह तो आँख का काँटा! आँख से रक्त बह रहा है, भयंकर दर्द हो रहा है। पर समभावी मुनि उसे निकालने की बात सोच भी नहीं रहे हैं। कोई कहे कि ठहरो, हम काँटा निकाल देते हैं, तो ठहरने को भी तैयार नहीं। कितनी हृदय-द्रावक साधना है! प्रश्न है कि ऐसी उग्र साधना करने वाला 'जिन-कल्पी मुनि' उस अवस्था में केवलज्ञान पा सकता है कि नहीं? जैन परम्परा का समाधान है कि नहीं, जिन-कल्पी अवस्था में केवल-ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

संघ की सर्वोच्चता :

मैं समझता हूँ, साधना के क्षेत्र में यह बहुत बड़ी बात कही गई है। जिनकल्पी अवस्था कठोर साधना की अवस्था है। उस स्थिति में तपस्या और कष्ट-सहिष्णुता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है, फिर क्या रहस्य है इसका कि जिनकल्प-साधना में मुक्ति नहीं होती?

मेरी बात आपके गले उतरे तो ठीक है, न उतरे तब भी कोई बात नहीं, मैं अपनी बात तो कहूँगा कि हम आजकल साधक की कठोर साधना को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं, अनशन एवं कायक्लेश आदि उस उग्र तपश्चर्या को ही मुक्ति का एकमात्र सीधा मार्ग समझ बैठे हैं। परन्तु हमें इस प्रश्न की गहराई में जाना होगा कि जिनकल्पी मुनि जैसी कठोर साधना अन्य किसी अवस्था में नहीं हो सकती, किन्तु फिर भी, उस कठोर साधना काल में भी मुक्ति नहीं मिले, तो इसका क्या कारण है? जिनकल्प की साधना से भी अधिक महत्त्व की कोई अन्य साधना भी है क्या?

बात यह है कि जैन-परम्परा ने समूह को महत्त्व दिया है। व्यक्तिगत साधना से भी अधिक सामूहिक साधना का महत्त्व यहाँ माना गया है। सामूहिक साधना की परम्परा में 'स्थविरकल्प' की अपनी परम्परा है। यह वह परम्परा है, जिसमें परस्पर के सद्भाव और सहयोग का विकास हुआ है। सेवा और समर्पण का आदर्श विकसित हुआ है। स्थविरकल्प की साधना में सामाजिक भाव का उदय हुआ है, विकास हुआ है। परस्पर के अवलम्बन एवं प्रेरणा के मार्ग पर अग्रसर होती हुई चली गई है यह साधना। 'स्थविरकल्पी' साधक क्रमशः कल्पातीत भूमिका पर पहुँच कर साधना की सर्वोच्च निर्मलता प्राप्त करके कैवल्य पा सकता है। इस दृष्टि से 'जिनकल्प' से भी अधिक महत्त्व 'स्थविरकल्प' का माना गया है।

बात यह है कि व्यक्ति महान् है, पर उससे भी महान् संघ है। व्यक्ति से समाज बड़ा है। राजनीति और समाज नीति में ही नहीं, अध्यात्म नीति में भी उसकी महत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि संघ या समाज नहीं है, तो व्यक्ति की ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि का कोई उपयोग नहीं। इसलिए संघ का व्यक्ति से भी अधिक महत्त्व है।

तीर्थंकर जैन-परम्परा के सर्वोच्च व्यक्ति हैं, महामानव हैं। आध्यात्मिक उपलब्धि के क्षेत्र में उनकी साधना अनन्यतम है। उनके जीवन प्रसंगों में आप देखेंगे कि जब समवसरण लगता है, तीर्थंकर सभा में विराजमान होते हैं, तब वे देशना प्रारम्भ करने से पहले तीर्थ को नमस्कार करते हैं, 'नमो तित्थस्स'। तीर्थ कहें या संघ, एक ही बात है। आप विचार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कीजिए, कितनी बड़ी बात कही है जैन परम्परा ने। तीर्थंकर भी मंगलाचरण के रूप में तीर्थ को, संघ को नमस्कार करते हैं। जो सर्वज्ञ हो चुके हैं, अतिशय-सम्पन्न हैं, जिनकी साधना सिद्धि के द्वार पर पहुँच चुकी है, वे उस संघ को नमस्कार करते हैं, जिस संघ में छोटे-बड़े सभी साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका सम्मिलित हैं। उस धर्म-संघ की भगवान् वन्दना करते हैं।

बुद्ध के जीवन में भी संघ की महत्ता का एक रोचक प्रसंग आता है। वहाँ भी श्रमण-संघ को एक पवित्र धारा के रूप में माना गया है। श्रावस्ती का सम्राट् प्रसेनजित जब तथागत बुद्ध को वस्त्र दान करने के लिए आता है, तो बुद्ध उससे पूछते हैं—"सम्राट्! तुम दान का पुण्य कम लेना चाहते हो या अधिक?"

सम्राट् ने उत्तर दिया—"भन्ते! कोई भी कुशल व्यापारी अपने माल का अधिक-से-अधिक लाभ चाहेगा, कम नहीं। अतएव मैं भी अपने दान का अधिक-से-अधिक लाभ ही चाहता हूँ।"

सम्राट् के उत्तर पर तथागत बुद्ध ने एक बहुत बड़ी बात कह दी—"सम्राट्! यदि अधिक-से-अधिक लाभ लेना चाहते हो, तो तुम्हारा यह दान (वस्त्र) मुझे अर्पण नहीं करके, संघ को अर्पण कर दो। मेरी अपेक्षा संघ को अर्पण करने में अधिक पुण्य होगा। संघ मुझ से भी अधिक महान् है।"

संघ के महत्त्व को प्रदर्शित करने वाली इस प्रकार की घटनाएँ संघीय जीवन का सुन्दर दर्शन उपस्थित करती हैं। हजारों वर्ष के बाद आज भी हमारे जीवन में संघ की महत्ता और गौरव-गाथा, इन संस्मरणों के आधार पर सुरक्षित है। भले ही बीच के काल में कितनी ही राजनीतिक हलचलें हुईं, उथल-पुथल हुईं, समाज के कई टुकड़े हो गए, संघ की शक्ति अलग-अलग खण्डों में विभक्त हो गई, पर टुकड़े-टुकड़े होकर भी हम जहाँ भी रहे, संघ बनकर रहे, समूह और समाज बनकर रहे। यही हमारी सांस्कृतिक परम्परा का इतिहास है। संघ की गौरव-गाथाओं ने आज भी हमारे जीवन में संघीय जीवन का आकर्षण भर रखा है, संघीय सद्भाव को सहारा देकर टिकाए रखा है।

संगठन की शक्तिमत्ता :

संघ एक धारा है, एक निर्मल प्रवाह है, जो इसके परिपार्श्व में खड़ा रहता है, निकट में आता है, उसे यह पवित्र धारा जीवन अर्पण करती चली जाती है। स्नेह, सद्भाव और सहयोग का जल-सिंचन कर उसकी जीवन-भूमि को हरा-भरा करके लहलहाती रहती है। जो धारा इस धारा से टूट कर दूर पड़ गई, वह धारा आगे चलती-चलती किसी अज्ञान, अन्ध-विश्वास तथा निहित स्वार्थ के गड्ढे में पड़कर संकुचित हो गई और उसका प्रवाह खत्म हो गया, उसका जीवन समाप्त हो गया। गंगा की विराट् धारा बहती है, उसमें स्वच्छता, निर्मलता और पवित्रता रहती है, किन्तु उसमें से कुछ बहता जल यदि कभी पृथक् धारा के रूप में अलग पड़ जाता है और किसी गड्ढे में अवरुद्ध हो जाता है, तो वह अपनी पवित्रता बनाए नहीं रख पाता, वह जीवनदायिनी धारा नहीं रह पाता, बल्कि जीवननाशिनी धारा बन जाता है। वह विछिन्नधारा सड़कर वातावरण में सड़ाँध पैदा करने लग जाती है और सड़-सड़कर चारों ओर मौत बाँटने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। अन्ततोगत्वा जीवनदायी जल जीवन-घातक बन जाता है।

वृक्ष की बड़ी-बड़ी शाखाएँ और छोटी-छोटी टहनियाँ हवा से झूमती, लचकती, एक प्रकार से नृत्य करती हुई-सी वृक्ष की विराटता और महानता की शोभा बढ़ाती हैं। फल-फूल उसके सौन्दर्य को द्विगुणित करते रहते हैं। हरे-हरे असंख्य पत्तों से वृक्ष की काया लुभावनी लगती है। ये शाखाएँ, पत्ते, फल-फूल विराट् वृक्ष के सौन्दर्य बनकर रहते हैं। इसमें वृक्ष की भी सुन्दरता है और उन सबकी भी सुन्दरता एवं शोभा है। फल है, तो फल बनकर रस दे रहा है, फूल है, तो फूल बनकर महक रहा है। पत्र हैं, तो पत्र बन कर शीतल छाया दे रहे हैं। यदि वे पत्र और फल-फूल वृक्ष से अलग पड़ जाते हैं, टूट-टूटकर गिर जाते हैं, तो उनका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, वे सूखकर समाप्त हो जाते हैं। वृक्ष के साथ उनका जो अस्तित्व और सौन्दर्य था, वह वृक्ष से टूटने पर विलुप्त हो जाता है।

वस्तुत: जीवन में जो प्रेम, सद्भाव और सहयोग का सहज रस है, वही व्यक्ति के अस्तित्व का मूल है, प्राण है। जब जीवन का वह रस सूखने लग जाता है, तो जीवन निष्प्राण कंकाल बन कर रह जाता है।

यह एक निश्चित तथ्य है कि जीवन की समस्याएँ व्यक्ति अकेला रह कर हल नहीं कर सकता, उसे समूह या संघ के साथ रहकर ही जीवन को सक्रिय और सजीव रखना होता है।

संगठन गणित की एक इकाई है। आपने गणित का अभ्यास तो किया ही है। बताइए, एक का अंक ऊपर लिखकर उसके नीचे फिर एक का अंक लिख दिया गया हो, ऊपर नीचे एक-एक बैठा हो, तो दोनों का योग करने पर क्या आएगा? १+१=२ एक-एक दो! दोनों एक आमने-सामने भी हैं, बहुत निकट भी है, किन्तु निकट होते हुए भी यदि उनके बीच में अन्तर है, उन्हें अलग-अलग रखने वाला एक चिन्ह बीच में है, तो जब तक यह चिन्ह है, तब तक संख्या-निर्धारण करते समय १+१=२ दो ही कहे जाएँगे। अब यदि उनके बीच से चिन्ह हटाकर उन्हें अगल-बगल में पास-पास रख दिया जाए, तो एक और एक मिलकर ग्यारह हो जाएँगे। एक-एक ऊपर-नीचे दूर-दूर रहने पर दो से आगे नहीं बढ़ सकता, एक-एक ही रहता है। पर एक-एक यदि समान पंक्ति में, बिना कोई चिन्ह बीच में लगाए, पास-पास अंकित कर दिए गए, तो वे ग्यारह हो गए।

जीवन में गणित का यह सिद्धान्त लागू कीजिए। परिवार हो, समाज हो, धर्मसंघ हो अथवा राष्ट्र हो, समस्याएँ सर्वत्र हैं। सर्वत्र मनुष्य में कुछ-न-कुछ मानवीय दुर्बलताएँ रहती हैं। हम दुर्बलता को बढ़ावा नहीं देते हैं, उन्हें दूर करना चाहते हैं, समस्याओं का समाधान करना चाहते हैं। परन्तु समाधान कैसे हो? इसके लिए एक-दूसरे से घृणा अपेक्षित नहीं है। शोरगुल करने से या संगठन को छिन्न-भिन्न करने से, दल परिवर्तन से समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। उसके लिए सद्भाव चाहिए, सहिष्णुता और धैर्य चाहिए। मानव कहीं पर भी हो, वह अपने लिए कुछ सद्भाव चाहता है और कुछ समभाव (समान भाव) भी। सहयोग भी चाहता है और स्वाभिमान की रक्षा भी। जब एक चीज के लिए दूसरी का बलिदान करने का प्रसंग आता है, तो समस्या खड़ी हो जाती है। उलझनें और द्वन्द्व पैदा हो जाते हैं। उस समय हमें मानव मन की अन्त:स्थिति को समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि एक-एक को अगल-बगल में अर्थात् समान पंक्ति में बैठा कर उसका बल बढ़ाना है अथवा ऊपर-नीचे या दूर-दूर रखकर उसे वैसे ही रखना है। संगठन, समाज और संघ की जो मर्यादा है, वह व्यक्ति को समान स्तर पर रखने की प्रक्रिया है। सब के हित और सब के सुख की समान भाव से रक्षा और अभिवृद्धि करना, यह समाज और संघ का प्रमुख उद्देश्य है। इसलिए भारतीय संस्कृति का अन्तर्नाद यही है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को संघ में विलीन करदे और इस संघीय भावना में प्रत्येक व्यक्ति को अपने समान समझे। व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत हित, सुख और स्वार्थ को संघ या समाज के हित, सुख और स्वार्थ की दृष्टि से देखे। अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाए, विराट् बनाए। इसी में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास है और संघीय जीवन की हजारों वर्ष पुरानी परम्परा का उत्कर्ष है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org